व्यवस्था में गतिरोध

□ प्रकाश शास्त्री

व्यवस्था का विचार सभी समाज विद्वानों ने जीव-शास्त्र से उधार लिया है और इसका सीधा सम्बन्ध मानव शरीर की पायी जानेवाली व्यवस्था से है। प्रख्यात जीव-शास्त्री और दार्शनिक वान बर्स्टालानफी ने इसका विशद विवेचन किया है। जिस प्रकार हमारे शरीर में ढेर सारे तत्व अन्दर आते हैं और ढेर सारे तत्व बाहर निकलते हैं अन्त में इसी का परिणाम होता है एक संतुलन की स्थिति एक समन्वय की प्रक्रिया जो धीरे-धीरे व्यवस्था का भी लक्ष्य बन जाती है। एक बोझिल तकनीकी भाषा में, इसे आगत, निर्गत पुनर्निवेशन तथा संतुलन कहते हैं।

राजनीति-शास्त्र में इस विचार का इस्तेमाल सबसे पहले डेविड ईस्टन ने किया है और उन्होंने 'ऑथोरिटेटिव एलोकुशन ऑफ वैल्यूज' का मुद्दा उठाया है। हैरोल्ड लासवैल ने कहा है : 'हूं गेट्स व्हाट ? व्हेन एण्ड हाउ'। अर्थात राजनीति शास्त्री शक्ति में वितरण तथा सहभागिता की चर्चा करते हैं।

हम जब भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की चर्चा कर रहे होते हैं तब इस प्रसंग में प्रोफेसर रजनी कोठारी, मोरिस जोन्स, मैयर तथा प्रोफेसर इकबाल नारायण के विचारों की प्रांसगिकता समझी जा सकती है। मोरिस जोन्स जहां कुछ मुहावरों की चर्चा करते हैं, वहां रजनी कोठारी भारतीय स्थिति की विशिष्ठताओं का मुद्दा उठाते हैं। वे जाति का राजनीति पर और राजनीति का जाति पर पड़नेवाले प्रभाव की चर्चा करते हैं। वे भारत की 'राजनीतिक संस्कृति' का प्रश्न भी उठाते हैं। मेयर पहली बार यह बताने की कोशिश करते हैं कि भारत में शक्ति का स्रोत कहां पर है। उस शक्ति में भागीदार कौन लोग हैं। तथा उस शक्ति की सीमाएं क्या हैं। अथवा क्या हो सकती हैं। जबकि प्रोफेसर इकबाल नारायण का यह मत है कि अभी भी भारतीय राजनीतिक व्यवस्था एक संक्रमण (ट्रान्जीशन) में से गुजर रही है। अतः यह पता नहीं चलता है कि उसका सूर्योदय हो रहा है या कि सूर्यास्त। फिर भी कुल मिलाकर वे एक आशावान विचारक के रूप में अपनी छाप छोड़ते हैं।

२५ जून १९७५ : पहला गतिरोध या नया दिशाबोध ?

इस सम्बन्ध में पहली विचारधारा की नुमाइन्दगी, जहां दयाकृष्ण, रजनी कोठारी, अरुण शौरी तथा डेविड सेल बोर्न करते हैं वहां पर दूसरी विचारधारा के पक्षधर के रूप में श्रीमती इन्दिरा गांधी, देवकान्त बरुआ, सिद्धार्थ शंकर रे, डा० के०एल० श्रीमाली, प्रोफेसर जी० सी० पाण्डे तथा कतिपय बुद्धिजीवी हैं। जहाँ रजनी कोठारी के तर्क उदारतावादी प्रजातंत्रिक तथा पूंजीवादी विचारधारा के अंतर्गत रखे जा सकते हैं वहां डेविड सेल बोर्न, के करुणाकरण तथा किशन पटनायक जैसे विचारकों को मार्क्सवादी विश्लेषण के अंतर्गत रखा जा सकता है। सर्वश्री रजनी कोठारी तथा दयाकृष्ण की यह निश्चित धारणा है कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में यह गतिरोध इसलिए आया है क्योंकि हमारे यहां नेहरु-युगीन व्यवस्था जहां 'आमराय' पर आधारित थी वहां इंदिरा-युगीन व्यवस्था 'संघर्ष' और 'टकराव' पर आधारित हुई। जिसका परिणाम यह निकला कि स्वायत्तता राज्यों की जहाँ डगमगाने लगी वहीं केन्द्र को सर्वशक्तिमान होने की लालसा बढ़ने लगी। न्यायपालिका की सत्ता का अवमूल्यन होता नजर आने लगा। और पार्टी (कांग्रेस दल) की हिस्सेदारी तथा निर्णय शक्ति कमजोर होने लगी। निर्णयों की तर्कसंगति और संस्थीकरण (इंस्टीट्यूशन लाईजेशन) की जगह 'व्यक्तिपूजा' (पर्सनलिटिकल्ट) की और झुकाव बढ़ने लगा। व्यवस्था के गतिरोध पर मार्क्सवादी विचारकों की यह निश्चित धारणा है कि ये उदारवादी प्रजाताँत्रिक विचारक गतिरोध की गहराई में नहीं जाना चाहते हैं मसलन किशन पटनायक पहले भारतीय विचारक थे जिन्हें भारत में संकटकाल के लगने की घोषणा का पूर्वाभास हो गया था। इंग्लैण्ड से आये डेविड सेलबोर्न, जो कि इंदिरा गांधी के निमंत्रण पर भारतीय स्थितियों का अध्ययन करने आये थे, ने अपने थीसिस में सरकार विरोधी विचार व्यक्त करने में प्रखरता दिखाई है। बात साफ है। वह यह है कि भारत में जितनी गरीबी, अशिक्षा, कुपोषण है उसमें ऐयाशी की राजनीति सिर्फ शोषण तथा दमन पर आधारित होती है। अगर यह अध्ययन हो कि देश को आजादी मिलने के बाद पुलिस, तथा मिलिटरी के खर्चे में कितनी वृद्धि हुई है तो बात साफ हो जायेगी। पिछले वर्ष राज्य सत्ता के दमन के साधनों में बेतहाशा वृद्धि हुई है। सवाल उठता है कि ऐसा क्यों हुआ है ? जिसका उत्तर साफ यह है कि जब भी राजसत्ता कुछ लोगों के हाथों में सिमट कर, सिकुड़ कर रहेगी वह सिर्फ़ शोषण के मूर्तिमान रूप होने के अलावा कुछ भी नहीं होगी। इसलिए जब संवैधानिक साधनों के जरिये वह भूखों, पिछड़ी तथा सर्वहारा लोगों को दमित नहीं कर पाती है तो वह आपातकालीन घोषणाओं का सहारा लेती है। सारतः जब तक शोषण रहेगा, दमन रहेगा तब तक आपातकाल की घोषणाएँ होती रहेंगी।

विदेशी मॉडल और मोहभंग की स्थितियाँ

श्रीमती इंदिरा गांधी ने कहा है कि इन विदेशी मॉडलों से हमारा कुछ भला होनेवाला नहीं है। उनकी यह मान्यता

है कि ये पश्चिमी विचारक हमारे बारे में दोहरे मापदण्ड अपनाते हैं ये लोग एक ओर तो सैनिक गठबंधनों के जरिये अपने 'सैनिक औद्योगिक हितों' की पूर्ति करते रहते हैं स्वयं अपने यहां की गंदी बस्तियों तथा नीग्रो लोगों की गरीबी से वे तनिक भी चिन्तित नहीं हैं—लेकिन दूसरी तरफ वे भारत को कठोर-से-कठोर कसौटियों पर कसते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि इस विशाल देश की सबसे बड़ी समस्या गरीबी से मुक्ति पाने की है। उसे सभ्यता की दौड़ में आगे आना है अर्थात उसे राष्ट्र निर्माण (नेशन बिल्डिंग) के लक्ष्य को हासिल करना ही है। उन देशों की तरह न तो हमारे पास ऐसे उपनिवेश हैं जो कि कच्चा-माल तो कौडियों के मोल दे दें और पक्का माल हम उन्हें मनचाहे दामों पर बेच सकें। फिर चीन तथा रूस की तरह हमारे पास न तो कॉडरबेस्ड पार्टी है और न ही अमेरिका की तरह हमारे पास साधनों के अम्बार जमा हैं। ऐसी स्थिति में हम क्या करें? हम कहां से पूंजी लायें तथा अपनी श्रमिक शक्ति को कहां खपायें? तब हमारे लिए शक्तिशाली-न्यायपालिका, कर्तव्यनिष्ठ-संसद तथा तटस्थ नौकरशाही की क्या उपयोगिता है? क्या हम अनन्त काल तक 'ब्रिटिश वेस्टमिन स्टर मॉडल' के गुलाम बने रहेंगे?

इंदिराजी की यहां भी दृष्ट धारणा है कि बुद्धिजीवी भटक गया है। वह हर चीज को पश्चिम की वैचारिकी देखने का अभ्यस्त हो गया है। कभी वह आंग्ल अमेरिकी प्रतिमान की दुहाई देता है और कभी वह चीन कम्यूनों की चरणवंदना करने लगता है? अतः इंदिराजी का यह आह्वान है कि भारत के बुद्धिजीवी भारतीय यर्थाथ की आवश्यकताएं पहिचानें—वे आगे आकर 'राष्ट्रनिर्माण' का 'भारतीय प्रतिमान' सुझायें। पश्चिमी मत का बुद्धिजीवी जिस 'कानून के शासन' की इतनी दुहाई देता है क्या उसके मुकाबिले में 'धर्म' की भारतीय धारणा एक ठोस विकल्प नहीं सुझाती है। (यहां 'धर्म', 'रिलीजन' का पर्याय-वाची नहीं है बल्कि कर्तव्य पर आधारित एक समाज व्यवस्था) रास्ता किधर से जाता है?

अब सवाल यह उठता है कि क्या हम इमरजेन्सी को व्यवस्था में एक गतिरोध मानें? या कि हम उसे लोकतंत्र के भारतीय प्रतिमान की तरफ उठते हुए चरण की संज्ञा दें इसे कुछ लोग यूं भी कहते हैं कि हमें आजादी से ज्यादा रोटी की जरूरत है जबकि दूसरा खेमा कहता है कि हमें रोटी के साथ में आजादी की भी जरूरत है। अब यह समन्वय कैसे बैठायें?

पश्चिमी दुनिया के विचारकों ने भी आज यह मान लिया है कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था ने प्रौढता तो हासिल कर ली है क्योंकि हमारे यहां सत्ता हस्तांतरण (दल के अंदर भी तथा दल के बाहर भी) शांतिपूर्ण तरीके से हुआ है। इसी संदर्भ में प्रधानमंत्री कैलेहन का यह कथन प्रायः उद्धृत किया जाता है कि 'इंदिराजी लोकतांत्रिक नेता नहीं होती तो वे चुनाव ही क्यों करवाती तथा शांतिपूर्ण तरीके से सत्ता क्यों सौंप देती? क्या हम यह मान लें कि जब जनता पार्टी शासनारुढ़ होती है तो वह जनतांत्रिक होती है और जब इंदिराजी को सत्ता सौंपती है तो क्या वे तानाशाही का समर्थन करती हैं?

सारतः सवाल काफ़ी पेचीदा है क्योंकि हमारे देश की समस्याएं और साधारणतः तीसरी दुनियां की समस्याएं पश्चिमी दुनियां से अलग किस्म की हैं। अगर व्यवस्था को बनाये रखने का मतलब शोषण को बनाये रखना है, गरीबी को बनाये रखना है, दमन को चिरस्थायी बनाना है, अंध-विश्वासों तथा कुरीतियों को गले से चिपकाये रखना है तो उत्तर साफ़ है कि बंधे-बंधाये मुहावरों तथा सीखे-सीखाये मॉडलों की दुनियां से बाहर निकलना है और वहीं से हमें कहीं नया रास्ता दिखाई देने लगेगा। □